◆ कहानी ◆

पीतल का घंटा

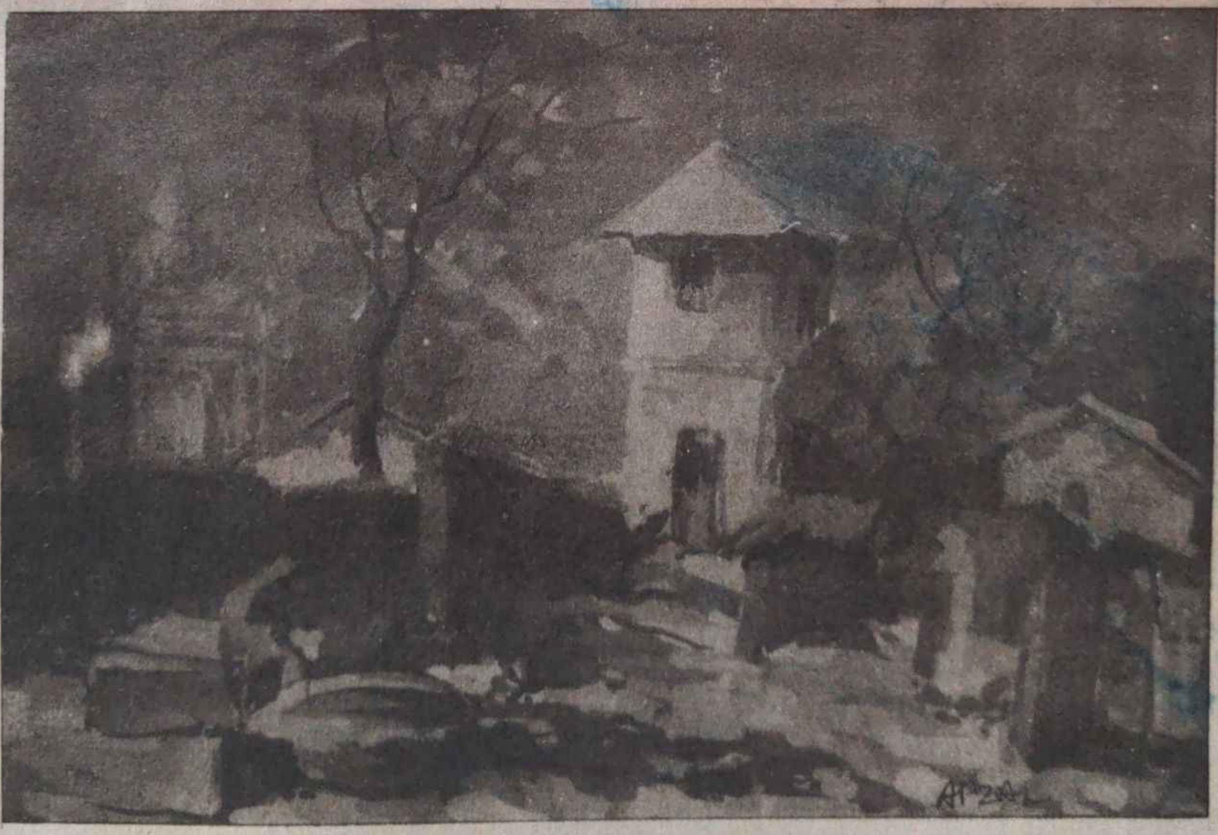
क़ाजी अब्दुस्सत्तार

आठवीं मर्तबा हम सब मुसाफ़िरों ने लॉरी को धक्का दिया और ढकेलते हुए ख़ासी दूर तक चले गये. लेकिन इन्जन गुनगुनाया तक नहीं. ड्राइवर गर्दन हिलाता हुआ उतर पड़ा. कंडक्टर सड़क के किनारे एक दरख़्त की जड़ पर बैठकर बीड़ी सुलगाने लगा. मुसाफ़िरों की नज़रें गालियाँ देने लगीं और होंठ बड़बड़ाने लगे. मैं भी सड़क के किनारे सोचते हुए दूसरे पेड़ की जड़ पर बैठकर सिग्रेट बनाने लगा. एक बार निगाह उठी तो सामने दूर दरख़्तों की चोटियों पर मस्जिद के मीनार खड़े थे. मैं अभी सिग्रेट सुलगा ही रहा था कि एक मज़बूत खुरदरे देहाती हाथ ने मेरी चुटकियों से आधी जली हुई तीली निकाल ली. मैं इस बेतकल्लुफ़ी पर नागवारी के साथ चौंक पड़ा. मगर वो इतमीनान से अपनी बीड़ी जला रहा था. वो मेरे पास ही बैठकर बीड़ी पीने लगा या बीड़ी खाने लगा.

"यह कौन गाँव है ?' मैंने मीनारों की तरफ़ इशारा करके पूछा.

"यू...यू भुसावल है."

भुसावल का नाम सुनते ही मुझे अपनी शादी याद आ गयी. मैं अन्दर सलाम करने जा रहा था कि एक बुज़ुर्ग ने टोककर रोक दिया. वो क्लासिकी काट की बानात की अचकन और चौड़े पाँयचे का पाजामा और फ़र की टोपी दिये मेरे सामने खड़े थे. मैंने सर उठाकर उनकी सफ़ेद भूरी मूँछें और हुकूमत से सींची हुई आँखें देखीं. उन्होंने सामने खड़े हुए ख़िदमतगार के हाथ से फूलों की बद्धियाँ ले लीं और मुझे पहनाने लगे. मैंने बल खाकर बनारसी पोत की झमझमाती हुई शेरवानी की तरफ़ इशारा करके तल्ख़ी से कहा, "क्या यह काफ़ी नहीं थी ?" वो मेरी बात पी गये, बद्धियाँ बराबर कीं, फिर नंगे सर पर हाथ फेरा और मुस्कराकर कहा, "अब तशरीफ़ ले जाइये." मैंने ड्योढ़ी में किसी से पूछा कि ये कौन बुज़ुर्ग थे. बताया गया कि ये भुसावल के क़ाज़ी इनाम हुसैन हैं. भुसावल के क़ाज़ी इनाम हुसैन, जिनकी हुकूमत और दौलत के अफ़साने मैं अपने घर में सुन चुका था. मेरे बुज़ुर्गों से उनके जो सम्बन्ध थे, मुझे मालूम थे. मैं अपनी गुस्ताख़ निगाहों पर शर्मिन्दा था. मैंने अन्दर से आकर कई बार मौक़ा ढूँढ़कर उनकी छोटी-मोटी ख़िदमतें अंजाम दीं. जब मैं चलने लगा तो उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर मुझे भुसावल आने की दावत दी और कहा कि इस रिश्ते से पहले भी तुम मेरे बहुत कुछ थे, लेकिन



अब तो दामाद भी हो गये हो. इस क़िस्म के रस्मी जुमले सभी कहते हैं, लेकिन उस वक़्त उनके लहजे में ख़ुलूस की ऐसी गर्मी थी कि किसी ने ये जुमले मेरे दिल पर लिख दिये.

मैं थोड़ी देर खड़ा बिगड़ी हुई 'बस' को देखता रहा, फिर अपना बैग झुलाता हुआ जुते हुए खेतों में इठलाती हुई चिकनी पगडंडी पर चलने लगा. सामने वो शानदार मस्जिद खड़ी थी, जिसे क़ाज़ी इनाम हुसैन ने अपनी जवानी में बनवाया था. मस्जिद के सामने मैदान के दोनों तरफ़ टूटे-फूटे मकानों का सिलसिला था, जिनमें शायद कभी भुसावल के जानवर रहते होंगे. ड्योढ़ी के बिल्कुल सामने दो ऊँचे आम के दरख़्त ट्रैफ़िक़ के सिपाहियों की तरह छतरी लगाये खड़े थे. उनके तने जल गये थे, जगह-जगह मिट्टी भरी थी. ड्योढ़ी के दोनों तरफ़ इमारतों की बजाय इमारतों का मलबा पड़ा था. दिन के तीन बजे होंगे. वहाँ उस वक़्त न कोई आदमी था न आदमज़ाद कि ड्योढ़ी से क़ाज़ी साहब निकले. लम्बे क़द के झुके हुए क़ाजी साहब डोरिये की क़मीज़, मैला पाजामा और मोटर टायर के तल्लों का पुराना पम्प पहने हुए माथे पर हथेली का छज्जा बनाये मुझे घूर रहे थे. मैंने सलाम किया. जवाब देने के बजाय वो मेरे क़रीब आये और जैसे एकदम खिल गये. मेरे हाथ से मेरा बैग छीन लिया और मेरा हाथ पकड़े हुए ड्योढ़ी में घुस गये. हम उस चक्करदार अँधेरी ड्योढ़ी से गुज़र रहे थे, जिसकी अन्धी छत की कमान की तरह झुकी हुई धन्नियों को घुने हुए बदसूरत शहतीर रोके हुए थे.

वो ड्योढ़ी से ही चिल्लाये, "अरे सुनती हो...देखो तो कौन आया है...मैंने कहा अगर सन्दूक़-वन्दूक़ खोले बैठी हो तो बन्द कर लो जल्दी से !" लेकिन दादी तो सामने ही खड़ी थीं, धुले हुए घड़ों की घिड़ौंची के पास. दादा उनको देखकर सिटपिटा गये. वो भी शर्मिन्दा-सी खड़ी थीं. फिर उन्होंने लपककर अलगनी पर पड़ी मारकीन की घर की धुली चादर घसीट ली और दुपट्टे की तरह ओढ़ ली. चादर के एक सिरे को इतना लम्बा कर दिया कि कुर्ते के दामन में लगा दूसरे कपड़े का चमकता पैवन्द छिप जाये. इस एहतमाम के बाद वो मेरे पास आयीं, काँपते हाथों से बलायें लीं, सुख और दुःख की गंगा-जमुनी आवाज़ में दुआएँ दीं.

दादी कानों से मेरी बात सुन रही थीं लेकिन हाथों से, जिनकी झुर्रियों-भरी खाल झूल गयी थी, दालान के इकलौते साबुत पलंग को साफ़ कर रही थीं, जिस पर मैले कपड़े, कत्थे-चूने की कुल्हियाँ और पान की डलियाँ ढेर थीं, और आँखों से कुछ और सोच रही थीं. मुझे पलंग पर बिठाकर दूसरे झँगला पलंग के नीचे से वो पंखा उठा लायीं, जिसके चारों तरफ़ काले कपड़े की गोट लगी थी और खड़ी हुई उस वक़्त तक झलती रहीं जब तक मैंने छीन न लिया. फिर वो बावर्चीख़ाने चली गयीं. वो एक तीन दरों का दालान था. बीच में मिट्टी का चूल्हा बना था. एलुमीनियम की चन्द मैली पतीलियाँ, कुछ पीपे, कुछ डब्बे, कुछ शीशी-बोतलें और दो-चार इसी क़िस्म की छोटी-मोटी चीज़ों के अलावा वहाँ कुछ भी न था. वो मेरी तरफ़ पीठ किये चूल्हे के सामने बैठी थीं. दादा ने कोने में खड़े हुए पुराने हुक़्क़े से बेरंग चिलम उतारी और बावर्चीख़ाने में घुस गये. मैं उन दोनों की घुन-घुन करती सरगोशियाँ सुनता रहा. दादा कई बार जल्दी-जल्दी बाहर गये और आये. मैंने अपनी शेरवानी उतारी और इधर-उधर देखकर छह दरवाज़ों वाले कमरे के किवाड़े पर टाँग दी. नक़्शीन किवाड़े को दीमक चाट गयी थी. एक जगह लोहे की पत्ती लगी थी, लेकिन बीचों-बीच गोल दायरे में हाथी-दाँत का काम कत्थे और तेल के धब्बों में जगमगा रहा था. बैग खोलकर मैंने चप्पल निकाले और जब तक मैं दौड़ूँ-दौड़ूँ, दादा घिड़ौंची पर से घड़ा उठाकर उस लम्बे-चौड़े कमरे में रख आये, जिसमें एक भी किवाड़ न था, सिर्फ़ घेरे लगे खड़े थे. मैं जब नहाने गया तो दादा एलुमीनियम का लोटा मेरे हाथ में पकड़ाकर मुज़रिम की तरह बोले, "तुम बेटा इतमीनान से नहाओ, इधर कोई नहीं आयेगा. पर्दे तो मैं डाल दूँ लेकिन अँधेरा होते ही चमगादड़ें घुस आयेंगी और तुमको दिक़ करेंगी."

क़ाज़ी अब्दुल सत्तार



जन्म : 9 फरवरी 1933, मछरेटा, ज़िला सीतापुर

संकलन : 'दारा शिकोह', 'सलाहउद्दीन', 'सबगज़ीदा', 'हज़रत जान', 'ख़ालिद बिन वलीद', 'ग़ालिब' (सभी उपन्यास), 'पीतल का घंटा' (कहानी संग्रह)

मैं घड़े को एक कोने में उठा ले गया. वहाँ दीवार से लगा अच्छी-ख़ासी थाली के बराबर पीतल का घंटा पड़ा था. मैंने झुककर देखा. घंटे के पेट में मुगरियों की मार से दाग़ पड़ गये थे. दो अंगुल का हाशिया छोड़कर जो सूराख़ था उसमें सूत की काली रस्सी बँधी थी. उसी सूराख़ के बराबर एक बड़ा-सा चाँद था. उसके ऊपर सात पहलू का सितारा था. मैंने तौलिया के कोने से झाड़कर देखा तो वो चाँद-तारा भुसावल स्टेट का मोनोग्राम था. अरबी लिपि में 'क़ाज़ी इनाम हुसैन ऑफ़ भुसावल स्टेट 'अवध' खुदा हुआ था. यही वह घंटा था, जो भुसावल की ड्योढ़ी पर एलाने-रियासत के तौर पर तक़रीबन एक सदी से बजता आ रहा था. मैंने उसे रौशनी में देखने के लिए उठाना चाहा लेकिन एक हाथ से उठा न सका. दोनों हाथों से उठाकर देखता रहा. मैं देर तक नहाता रहा. जब बाहर निकला तो आँगन में क़ाज़ी इनाम हुसैन पलंग बिछा रहे थे. क़ाज़ी इनाम हुसैन, जिनकी गद्दीनशीनी हुई थी, जिनके लिए बन्दूकों का लाइसेन्स लेना ज़रूरी नहीं था, जिन्हें हर अदालत तलब नहीं कर सकती थी, दोनों हाथों पर ख़िदमतगारों की तरह तबाक़ उठाये हुए आये, जिसमें अलग-अलग रंगों की दो प्यालियाँ 'लब-सोज़', 'लबबन्द' चाय से लबरेज़ रखी थीं. एक बड़ी-सी प्लेट में दो उबले हुए अंडे काटकर फैला दिये गये थे. शुरू अक्तूबर की ख़ुशगवार हवा के रेशमी झोंकों में हम लोग बैठे नमक पड़ी हुई चाय की चुस्कियाँ ले रहे थे कि दरवाज़े पर किसी बूढ़ी आवाज़ ने हाँक लगायी, "मालिक...?"

"कौन ?"

"मेहतर है आपका...साहजी का बुलाय लाये हैं."

दादा ने घबराकर एहतियात से अपनी प्याली तबाक़ में रखी और जूते पहनते हुए बाहर चले गये. अपने भले दिनों में तो इस तरह शायद वो कमिश्नर के आने की ख़बर सुनकर भी न निकले हों.

मैं एक लम्बी टहल लगाकर जब वापस आया तो ड्योढ़ी में मिट्टी के तेल की डिबिया जल रही थी. दादा बावर्चीख़ाने में बैठे चूल्हे की रौशनी में लालटेन की चिमनी जोड़ रहे थे. मैं ड्योढ़ी से डिबिया उठा

लाया और इसरार करके उनसे चिमनी लेकर जोड़ने लगा.

हाथ-भर लम्बी लालटेन की तेज़ गुलाबी रौशनी में हम लोग देर तक बैठे बातें करते रहे. दादा मेरे बुज़ुर्गों से अपने ताल्लुक़ात बताते रहे...अपनी जवानी के क़िस्से सुनाते रहे. कोई आधी रात के क़रीब दादी ने ज़मीन पर चटाई बिछायी और दस्तरख़्वान लगाया. बहुत-सी अनमेल बेजोड़ असली चीनी की प्लेटों में बहुत-सी क़िस्मों का खाना चुना. शायद मैंने आज तक इतना नफ़ीस खाना नहीं खाया.

सुबह मैं देर से उठा. यहाँ से वहाँ तक पलंग पर नाश्ता चुना हुआ था. देखते ही मैं समझ गया कि दादी ने रात-भर नाश्ता पकाया है. जब मैं अपना जूता पहनने लगा तो रात की तरह उस वक़्त भी दादी ने मुझे आँसू-भरी आवाज़ से रोका. मैं माफ़ी माँगता रहा. दादी ख़ामोश खड़ी रहीं. जब मैं शेरवानी पहन चुका, दरवाज़े पर इक्का आ गया, तब दादी ने काँपते हाथों से मेरे बाज़ू पर इमाम-ज़ामिन बाँधा. उनके चेहरे पर चूना पुता हुआ था, आँखें आँसुओं से छलक रही थीं. उन्होंने रुँधी हुई आवाज़ में कहा, ''ये इक्कावन रुपये तुम्हारी मिठाई के हैं और दस किराये के....''

''अरे...अरे दादी...यह आप क्या कर रही हैं !'' अपनी जेब में जाते हुए रुपयों को मैंने पकड़ लिया.

''चुप रहो तुम...तुम्हारी दादी से अच्छे तो कुँजड़े-क़साई हैं, जो जिसका हक़ होता है वो दे तो देते हैं...ग़ज़ब ख़ुदा का, तुम ज़िन्दगी में पहली बार मेरे घर आओ और मैं तुमको जोड़े के नाम पर एक चिट भी न दे सकूँ...मैं...भैया, तेरी दादी तो फ़क़ीरन हो गयी... भिखारन हो गयी...भिखारन हो गयी !''

मालूम नहीं कहाँ-कहाँ का ज़ख़्म खुल गया था. वो धारों-धार रो रही थीं. दादा मेरी तरफ़ पुश्त किये खड़े थे और जल्दी-जल्दी हुक़्क़ा पी रहे थे. मुझे रुख़सत करनेदादी ड्योढ़ी तक आयीं, लेकिन मुँह से कुछ न बोलीं. मेरी पीठ पर हाथ रखकर और गर्दन हिलाकर रुख़सत कर दिया. दादा, क़ाज़ी इनाम हुसैन ताल्लुकेदार भुसावल थोड़ी दूर तक मेरे इक्के के साथ चलते रहे, लेकिन न मुझसे निगाह मिलायी न मुझे ख़ुदा-हाफ़िज़ कहा. एक बार निगाह उठाकर देखा और मेरे सलाम के जवाब में गर्दन हिला दी.

सिधौली, जहाँ से सीतापुर के लिए मुझे बस मिलती, अभी दूर था. मैं अपने ख़यालों में डूबा हुआ था कि मेरे इक्के को सड़क पर खड़ी हुई सवारी ने रोक लिया. जब मैं होश में आया तो मेरा इक्केवाला हाथ जोड़े हुए मुझसे कह रहा था, ''मियाँ....ई साह जी भुसावल के साहुकार हैं. इनके इक्के का बम टूट गवा है, आप बुरा न मानो तो ई बैठ जायं !''

मेरी इजाज़त पाकर उसने शाहजी को आवाज़ दी. शाहजी रेशमी कुर्ता और महीन धोती पहने आये और मेरे बराबर बैठ गये और इक्केवाले ने मेरे और उनके सामने पीतल का घंटा दोनों हाथों से उठाकर रख दिया. घंटे के पेट में मुगरी की चोट का दाग़ बना था. दो अंगुल के हाशिये पर सूराख़ में सूत की रस्सी पड़ी थी. उसके सामने क़ाज़ी इनाम हुसैन ऑफ़ भुसावल स्टेट अवध का चाँद और सितारे का मोनोग्राम बना हुआ था. मैं उसे देख रहा था...और शाहजी मुझे देख रहे थे....और इक्केवाला हम दोनों को देख रहा था. इक्केवाले से रहा नहीं गया. उसने पूछ ही लिया, ''का शाहजी घंटा भी खरीद लायो ?''

''हाँ...कल शाम का, मालूम नाईं का वख़त पड़ा है मियाँ पर कि घंटा दै दिहिन बुलाय के...ई घंटे का अब तक कलेजे से लगाये रखे रहे.''

''हाँ...वख़त-वख़त की बात है शाहजी, नाईं तो ई घंटा...ऐ घोड़े की दुम, रास्ता देख के चल.'' यह कहकर उसे एक चाबुक झाड़ा.

मैं, 'मियाँ का बुरा वक़्त' चोरों की तरह बैठा हुआ था. मुझे मालूम हुआ कि यह चाबुक घोड़े के नहीं, मेरी पीठ पर पड़ा है. ▣